[illegible]

(20 memoirs by Ma Yog Kranti)

अनुक्रम

एक....2
दो 2
तीन 3
चार 4
पांच 4
छह....5
सात 5
आठ....7
नौ 7
दस....8
ग्यारह 9
बारह 9
तेरह 10
चौदह 11
पंद्रह 11
सोलह 12
सत्रह 13
अठारह 13
उन्नीस 14
बीस 15

एक

रात्रि बहुत अंधेरी है। हम सब चुप बैठे हैं। आचार्य श्री के साथ चुपचाप बैठना भी एक अनुभव और आनंद है। उनके निकट कई बार लगा है कि जैसे मौन में भी वे कुछ कहते हैं। उनसे इस संबंध में पूछा भी था। वे हंसने लगे थे और फिर बोले थेः "सत्य को बोलने में कोई भी शब्द समर्थ नहीं है। उसे तो मौन में ही कहा जा सकता है। काश, मौन होना हमें ज्ञात हो, तो रहस्य के अनंत द्वार खुल जाते हैं। मनुष्य की पीड़ा यही है कि वह मौन होना भूल गया है। उस भूल के कारण ही प्रकृति से उसके समस्त संबंध विच्छिन्न हो गए हैं। प्रकृति के पास तो मौन के अतिरिक्त कोई भाषा नहीं है, और जो उस भाषा को भूल जाता है, वह सहज ही प्रकृति से दूर हो जाएगा। और, प्रकृति से दूर हो जाना ही पीड़ा है।"
फिर वे चुप हो गए। उनके साथ हम भी चुप हो गए। रात्रि का सन्नाटा सुनाई पड़ने लगा। हवाएं दरख्तों को हिलाती हैं, और झींगरों का संगीत सुनाई पड़ता है। हम सजग हैं और मौन हैं। हम उस मौन में अपने को पिघलता हुआ अनुभव करते हैं। भीतर कुछ विलीन होता लगता है। वह मौन हमें वाष्पीभूत कर रहा है। तभी वे बोलेः "मैं" भाव जब मिटता है, तभी मौन उपलब्ध होता है। उसके विलीन होने पर ही प्रकृति से मिलन और संवाद है।"
किसी ने पूछाः "मौन कैसे हों?" उन्होंने उत्तर में कहाः "बस हो जाओ। बहुत विधि और व्यवस्था की बात नहीं है। चारों ओर जो हो रहा है, उसे सजग होकर देखो, और जो सुन पड़ रहा है, उसे साक्षी भाव से सुनो। संवेदनों के प्रति होश तो पूरा हो, पर प्रतिक्रिया न हो। प्रतिक्रिया-शून्य सजगता से मौन सहज ही निष्पन्न होता है।"
थोड़ी देर बाद वे कहने लगेः "मात्र वाणी के अव्यवहार को ही मैं मौन नहीं कहता। वाणी का नहीं, प्रश्न विचार का है। वाणी तो गौण है, मूल और केंद्र तो विचार है। भीतर विचार चलते हों और वाणी अवरुद्ध भी हो तो वह मौन नहीं है और भीतर विचारों की यांत्रिक धारा न हो, चाहे वाणी प्रयुक्त भी हो, तो भी वह मौन है। जैसे कोई भोजन न ले लेकिन भोजन का भोग चिंतन करे तो उसे मैं उपवास नहीं कहूंगा। और यह भी हो सकता है कि कोई भोजन ले, लेकिन उसमें भोगवृत्ति और मूर्च्छा न हो वह उपवास ही है। असली बात हमेशा ही आंतरिक है, औपचारिक नहीं।"
मैं सुनती हूं कि "असली बात हमेशा ही आंतरिक है, औपचारिक नहीं," और मुझे उनकी बहुत सी अंतर्दृष्टियां स्मरण हो आती हैं, उनके जीवन-दर्शन में यह धारणा बहुत आधारभूत है। वस्त्रों पर नहीं, उनका जोर हमेशा ही वृत्तियों पर है। और बाह्य-चर्या परिवर्तन पर नहीं, उनका आग्रह सदा ही अंतस-क्रांति के लिए है। औपचारिक की बाढ़ ने समस्त धर्मों को नष्ट कर दिया है। असार की उस भीड़ में ही सार खो जाता है और एक दिन हम पाते हैं कि हमारे हाथों में केवल राख है, और अंगारे कब के ही तिरोहित हो चुके हैं।

दो

एक अपरिचित व्यक्ति आए हैं। उन्होंने कुछ फूल आचार्यश्री को भेंट किए। वे फूल सुंदर हैं। आचार्य श्री ने कहाः "फूल कितने सुंदर हैं? किंतु मित्र, तुमने इन्हें तोड़कर सुंदर कार्य नहीं किया। जो सौंदर्य को प्रेम कहेगा, वह फूलों को पौधों से तोड़ने में असमर्थ हो जाएगा। तोड़ने से जीवित फूल मृत हो गए, और जीवित को मृत करने से असुंदर और कुछ भी नहीं है। हिंसा सबसे बड़ी कुरूपता है, और अहिंसा सबसे बड़ा सौंदर्य है।"
किसी ने पूछाः "हम फूलों को प्रेम करते हैं, इसीलिए ही तो उन्हें तोड़ते हैं।"

वे बोलेः "प्रेम और फूलों को तोड़े जाने में विरोध है। फूलों से प्रेम
हो तो कैसे कोई तोड़ सकेगा? उनका तोड़ा जाना प्रेम का नहीं, क्रूरता का प्रतीक है। वह हमारी अधिकार-लिप्सा है। जो भी हमें सुंदर लगता है, उसके ही मालिक होना चाहते हैं। फिर, चाहे इस अधिकार करने में वह नष्ट ही क्यों न हो जाए। यह फूलों के साथ ही नहीं, वरन हमारे समस्त जीवन व्यवहार के लिए भी सत्य है। मानवीय संबंधों में भी हम यही करते हैं। जिन्हें हम प्रेम करते हुए मालूम पड़ते हैं, उनके साथ भी हम यही क्रूरता करते हैं। वहां भी अधिकार चाहा और आरोपित किया जाता है। वहां भी फूल तोड़ लिए जाते हैं, और जीवन के पौधे इस छीन झपट में असमय ही नष्ट हो जाते हैं।"
कुछ देर बाद उन्होंने पुनः कहाः "जहां प्रेम है, वहां अधिकार और बंधन नहीं है। प्रेम तोड़ना नहीं, लगाता है, प्रेम मारता नहीं, जिलाता है, और प्रेम बांधता नहीं, मुक्त करता है। फूलों से यदि प्रेम है, तो स्वयं फूलों के हो जाओ, किंतु उन्हें तोड़ कर उनके मालिक मत बनो। प्रेम केवल देना ही जानता है, मांगने की भाषा भी उसे अपरिचित है, छीनने की भाषा का तो सवाल ही नहीं। और स्मरण रहे कि यह मैं पूरे जीवन के लिए कह रहा हूं। जो इस सत्य को नहीं जानते हैं, वे प्रेम के नाम पर अपनी कू्ररता और हिंसा को ही पोषित करते हैं। उनके तथाकथित प्रेम में उनकी घृणा ही छिपी रहती है, और उनके सौंदर्य बोध में बहुत गहरी कुरूपता होती है।"
यह सुन कर हम सोच में पड़ गए। उन्होंने हमारे किन्हीं गहरे घावों को छू दिया था।
वे हंसे और बोलेः "सोचो मत। देखो। सोचने से मनुष्य सच्चाइयों से दूर निकल जाता है। वह अपने से ही दूर निकल जाता है। वह अपने से ही दूर जाने और बचने की तरकीब है। अच्छा हो कि जो मैं कह रहा हूं, उसकी सच्चाई को अपने भीतर देखो। अपने प्रेम को उघाड़ो और देखो कि क्या जो मैंने कहा वह सच है?"

तीन

एक विचारक आए हैं। पहले भी कई बार आ चुके हैं। ईश्वर पर निरंतर ही उनका चिंतन चलता रहता है। बहुत से शास्त्रों के अध्येता हैं और बातें करने में कुशल हैं। आचार्य श्री हमेशा ही उनसे कहते हैं कि मात्र विचार करते रहने का कोई मूल्य नहीं है। बातचीत का मूल्य हो भी क्या सकता है? फिर वह बातचीत चाहे दूसरों से हो या कि स्वयं से। शब्द को सत्य मत मान लेना। सत्य की खोज मात्र शब्द से नहीं, वरन समग्र जीवन से ही करनी होती है। आज भी कुछ ऐसी ही बातें चल पड़ी हैं। आचार्य श्री एक कथा कहते हैंः "एक कवि ने किसी सम्राट के दरबार में उसकी प्रशंसा में बहुत गीत गाए। बड़े सुंदर उसके शब्द थे और बड़ी मोहक उसकी शैली थी। सम्राट खूब प्रसन्न हुआ और उसने अपने आमात्य को कहा कि महाकवि को कल पुरस्कार में पांच हजार स्वर्ण-मुद्राएं भेंट की जाएं। कवि स्वयं को महाकवि मानकर आनंदित हो अपने झोंपड़े में लौटा। आज उसके पैर भूमि पर नहीं पड़ते थे। पांच हजार स्वर्ण-मुद्राओं ने उसके सोए स्वप्नों को जगा दिया था। रात्रि भर वह सो भी नहीं सका। बहुत कल्पनाएं बनी और मिटीं। बहुत योजनाएं उसके समक्ष थीं। बस कल की ही प्रतीक्षा थी। किसी भांति बड़ी कठिनाई से रात्रि बीती। लेकिन मन ही मन मुद्राएं गिनने का काम चलता ही था। सुबह होते ही वह राज दरबार पहुंच गया। सम्राट उसपर हंसने लगा और बोलाः "क्या चाहते हैं? कैसे आना हुआ?" कवि हैरान हुआ। चिंतित हो बोलाः "क्या आप भूल गए? आपने पांच हजार स्वर्ण-मुद्राएं देने का आश्वासन दिया था?" सम्राट ने कहाः "बहुत भोले हैं। आप। बातों से आपने मुझे खुश किया था, सो मैंने भी बात ही बात में आपको खुश कर दिया था। लेने देने की इसमें क्या बात है? यह कथा कह कर आचार्य श्री हंसने लगे और बोलेः "ऐसी ही स्थिति हमारे और प्रभु के बीच है। विचार नहीं, जीवन का ही प्रतिफल और पुरस्कार मिलता है।"

चार

हम एक यात्रा पर थे। जिन यात्रियों के गंतव्य आ जाते वे अपने स्थान के पूर्व ही गाड़ी से उतरने के लिए अपना सामान तैयार कर लेते थे, आचार्य श्री ने कहाः "देखो, इस साधारण यात्रा में यात्री कितने सजग हैं, पर जीवन की महत यात्रा में हमारी सजगता जरा सी भी नहीं होती। न गंतव्य का बोध होता है, और न कोई पूर्व तैयारी। मृत्यु जब हमें जीवन से अलग करती है, तो हम अवाक ही रह जाते हैं। उस समय ज्ञात होता है कि हमें ज्ञात ही नहीं था कि मृत्यु भी है, और उसके लिए भी हमें कोई तैयारी करनी थी?"
मैंने पूछाः "हम क्या करें?"
वे बोलेः पहली बात तो यह जानने और स्मरण रखने की है कि जीवन एक यात्रा है। हम किसी बिंदु से चल रहे हैं, और हमें किसी बिंदु तक पहुंचना हैं। हमारा होना एक विकास है। हम पूर्ण नहीं हैं। किंतु हमें पूर्ण होना है। पूर्णता के लिए न कोई विकास है, न कोई यात्रा है। सब विकास और यात्रा अपूर्णता में है। हम यात्रा में हैं, इस बोध का अर्थ है कि हम अपूर्ण हैं। अपनी अपूर्णता को ध्यान में रखो, अपनी सीमाओं पर मनन करने से अपूर्णता का दर्शन होता है, और, अपूर्णता का बोध पूर्णता की अभीप्सा को जन्म देता है। जिसे दीखेगा कि वह अपूर्ण है, वह पूर्ण के लिए आकांक्षा से भर ही जाएगा। जो अनुभव करता है कि वह अस्वस्थ है, वह सहज ही स्वस्थ के लिए कामना करने लगता है। अंधकार का अनुभव होने लगे तो प्रकाश की प्यास पैदा हो ही जाती है।"
एक सहयात्री ने कहाः "यदि अपूर्णता का अनुभव भी हो, तो फिर क्या होगा?" उन्होंने उस यात्री की ओर देखा और कहाः "जब किसी को प्यास का अनुभव होता है, तो क्या होता है? क्या प्यास ही पानी की खोज नहीं बन जाती है? ऐसे ही अपूर्णता का अनुभव पूर्णता की प्यास और खोज बन जाती है। तब जीवन में गंतव्य आता है, और हम कहीं पहुंचना प्रारंभ होते हैं। गंतव्य शून्य जीवन भोग है, गंतव्ययुक्त जीवन योग बन जाता है। भोग का जीवन सरोवर का जीवन है, वह कहीं जाता नहीं, वह बस सूखता और समाप्त होता है। योग का जीवन सरिता का जीवन है। वह सागर की ओर सतत गति है। सरिता बनो और सागर की ओर चलो। उस भांति ही केवल सार्थकता उपलब्ध होगी। सरोवर अपने में जीता है। वह यात्रा नहीं है। उसे कहीं पहुंचना और कुछ होना नहीं है। सरिता अपने में नहीं जाती है। वह अपने अतिक्रमण के लिए जीती है। वह अपने से पार के लिए जीती है। सरिता यात्रा है और गति है, क्योंकि उसे सागर होना है। वह अपने से अतृप्त है, और अपनी सीमाओं को पार कर असीम को पाने की उसकी आकांक्षा है। ऐसी ही आकांक्षा मनुष्य में भी स्वयं की अपूर्णता के बोध से पैदा होती है। अपूर्णता का अनुभव करना मनुष्य का सबसे बड़ा सौभाग्य है, क्योंकि उसके द्वारा ही पूर्णता की ओर पहले चरण रखे जाते हैं।

पांच

सुबह हो गई है। हम एक नदी तट पर हैं। मुछए मछली पकड़ रहे हैं। कुछ पकड़ी
गई मछलियां रेत पर तड़फ रही हैं। आचार्य श्री ने कहाः "जैसे पानी के बाहर मछलियां तड़पती हैं, ऐसे ही परमात्मा के बाहर मनुष्य तड़पता है।"
फिर हम वापस लौटते थेः किसी ने पूछाः "हमारे दुखों का कारण क्या है।"
वे बोलेः "दुखों का नहीं, पूछो दुख का, क्योंकि वस्तुतः बहुत दुख नहीं हैं, एक ही दुख है। परमात्मा के बाहर होना ही हमारा एकमात्र संताप है। और, यह हमें ज्ञात भी नहीं रहता है। दुखों की भीड़ में हम "दुख" को भूल जाते हैं। और, फिर "दुख" से दुखों का जन्म होता है। परमात्मा से दूर होना मूल दुख है। शेष सब दुख उसकी संतति हैं। जैसे कोई किसी वृक्ष की जड़ को न काट कर मात्र शाखा प्रशाखाओं को काटता रहे, और सोचो कि वृक्ष नष्ट हो जावेगा, ऐसी ही भूल वह व्यक्ति भी करता है, जो दुख को भूल दुखों को दूर करने का उपाय करता है।"

मैं सुनती थी तो मुझे लगा कि इन छोटे छोटे वचनों में कितना सत्य है। क्या सच ही हम पानी के बाहर पड़ी मछलियां की भांति नहीं तड़प रहे हैं? और विचार के उस क्षण में मौंने सारे जगत को मछलियों की भांति तड़फते हुए देखा। वे मुझे विचार में पड़ा देख बोले थेः "विचार क्या करना है? मनुष्य वह मछली भी है, जो सागर के जल से वियुक्त हो रेत पर तड़फती है, और वह मछुआ भी वही है, जो उसे ऐसा तड़फाता है। मनुष्य मछली भी है और मछुआ भी। हम ही अपने बंधन और दुख के कारण हैं। और यही हमारी स्वतंत्रता और मुक्ति की आशा और संभावना भी है। हम जिस दिन निर्णय लें, उसी दिन परमात्मा से वापस जुड़ सकते हैं। अपने ही संकल्प से दूर हैं, इसीलिए अपने ही संकल्प से निकट हो सकते हैं, मनुष्य की परतंत्रता में ही उसकी स्वतंत्रता भी छिपी हुई है।"

छह

हम प्रवास में थे। दोपहर थी। कुछ लोग आचार्य श्री से कह रहे थे कि हम स्वयं तो कुछ कर नहीं सकते हैं। गुरुकृपा हो या प्रभुकृपा हो तो ही कुछ हो सकता है। हम स्वयं तो अज्ञानी हैं और शक्तिहीन हैं। क्या हम भी प्रभु को पाने की आशा कर सकते हैं?
आचार्य श्री उनकी बातें सुन कर हंसने लगे और बोलेः "एक कहानी सुनो। एक बादशाह किसी युद्ध में हार गया था। अभी अभी उसे हारने की खबर दी गई थी। खबर सुनते ही उसका खून सूख गया था और आंखों की रोशनी खो गई। उसे सब ओर अंधकार प्रतीत हो रहा था। अपने महल में वह ऐसा बैठा था जैसे कि कब्रिस्तान में बैठा हो। तभी उसकी रानी उसके पास आई। उसने पूछा कि महाराज इतने उदास क्यों हैं? राजा से कुछ कहते भी नहीं बन रहा था। किसी भांति उसने कहाः "बहुत बुरी खबर है। युद्ध में मेरी सेना हार गई हैं। मैं पराजित हो गया हूं।" यह सुन रानी ने कहाः "यह खबर तो मुझे भी ज्ञात है, लेकिन मेरे पास तो इससे भी बुरी खबर है।" राजा ने कहाः "इससे भी बुरी? इससे भी बुरी खबर और क्या हो सकती है?" रानी ने कहाः "महाराज आप युद्ध हार गए हैं लेकिन युद्ध पुन जीता जा सकता है। पर मैं तो देख रही हूं कि आप साहस भी हार चुके हैं। वह हार बड़ी कि यह? यह खबर ज्यादा बुरी कि यह? निश्चय ही साहस खोने से बड़ी और कोई पराजय नहीं है। जो उसे खो देता है, वह तो भविष्य ही खो देता है।"

सात

सूर्य डूबने को था, उसे देखते हुए आचार्य श्री एक वृक्षमूल के निकट बैठे थे। तभी हम उनके पास गए। उनकी आंखों में करुणा थी। उन्होंने सूर्य की ओर इशारा करते हुए कहाः "सूर्यास्त की भांति ही आज धर्म भी अस्त हुआ जा रहा है। मनुष्य के समस्त दुखों के मूल में यही दुर्घटना है।"
सूर्य का डूबना और उनकी वाणी में छिपी हृदय की वेदना ने उस सांझ को बहुत उदास कर दिया। हम कुछ न बोले सके और चुप हो रहे। फिर वे स्वयं ही बोलने लगे। जैसे हमसे नहीं। अपने से ही बोलते हों, ऐसा हमें लगा। उन्होंने कहाः "और, इसका कारण है, सदधर्म का एक न होना। धर्म की ओर शुभ
की शक्तियां एक नहीं हैं। इसीलिए धर्म जो कि अपराजय है, अधर्म के सामने पराजित होता देखा जाता है। हमें इससे अधिक हानि और किसी चीज से नहीं पहुंची है। यह अब तक चला, पर अब आगे नहीं चल सकेगा। मनुष्यता के जीवन में एक ऐसा क्षण आ गया है कि या तो शुभ और सत्य की शक्तियों को एक होना होगा, या फिर मनुष्यता ही नहीं बचेगी। अशुभ के साथ जो अंतिम और निर्णायक युद्ध है, उसमें शुभ की समस्त शक्तियां इकट्ठी होकर ही सफलता की आशा कर सकती हैं।" यह विचार हमारे हृदयों में घर कर गया। हमें यह ठीक ही लगा। धर्म के नाम पर धर्मों के संघर्ष बहुत अशोभन प्रतीत होते हैं। धर्मों में विरोध हो, यह बात असंभव होनी चाहिए, पर स्थिति उलटी ही है, उनमें अविरोध ही असंभव

बना हुआ है। धर्मों की बात तो दूर, एक ही धर्म के भीतर, पंथों और संप्रदायों में जो मनोमालिन्य और वैमनस्य है, वह बहुत आश्चर्य पैदा करता है। जरूर ही कहीं कोई बुनियादी भूल है।
मैंने उनसे पूछा कि वह कौनसा बुनियादी कारण है, जिसके कारण धर्म धर्म में विरोध है। वे बोलेः "अहंकार और केवल अहंकार। धर्म का धर्म से कोई विरोध नहीं है। विरोध है तथाकथित धर्मानुयायिओं की अहंताओं में। अहंकार ही लड़ता और लड़ाता है। इसीलिए एक धर्म को मानने वाले भी अनेक अहंता केंद्रों को बनाकर विभक्त हो जाते हैं। विश्व में समस्त विभक्ति और विरोध का केंद्र और कारण अहं है, और समस्त मिलन और प्रेम का कारण अहं विसर्जन। और सच पूछें तो अहं ही अधर्म है। धर्म नहीं लड़ाते, धर्मानुयायिओं में जो अधर्म है, वही लड़ाता है। जब तक धार्मिक होना जीवन से नहीं, जन्म से ही निर्णीय होता रहेगा, तब तक यह स्वाभाविक ही है। धार्मिक हुए बिना ही लोग धार्मिक बने हुए हैं, यही सारे उपद्रव की जड़ है। काश, धर्म का निर्धारण जन्म से न होता, और जीवन से होता, तो धर्म के नाम पर हुए कलंकों से इतिहास बच जाता। धर्म जिनके लिए जीवित अनुभव नहीं है, वे ही अपरिष्कृत व्यक्ति धर्मों के बीच बनी समस्त खाईयों के निर्माता हैं।"
वे कुछ देर चुप रहे और उन्होंने पुनः कहाः "धर्म को बाहर के अधार्मिक व्यक्तियों से कभी कोई हानि नहीं पहुंचती है। हानि पहुंचती है, भीतर के अधार्मिक व्यक्तियों से। धर्मों के लिए संकट हमेशा भीतर से है, यद्यपि अज्ञानवश लोग उसे सदा ही बाहर से समझते रहे हैं, और इसीलिए उन्होंने बाहर से तो सुरक्षा की और भीतर के प्रति बेखबर रहे। मैं देख रहा हूं कि बाहर कोई दुश्मन ही न थे, और भीतर के दुश्मनों ने अंततः धर्मों को डुबो दिया। भीतर के अधार्मिक लोग धर्म को साधना की भांति नहीं, एक संगठन की भांति पकड़ते हैं, और तब वे क्रमशः उसे एक सामाजिक और राजनैतिक रूप देने में सफल हो जाते हैं। और, उनकी सफलता ही धर्म की असफलता हो जाती है। धर्म संगठन नहीं है। संगठन मात्र किसी के विरोध में खड़े होते हैं, घृणा उनका प्राण है। विरोध और वैमनस्य के बिना वे जी ही नहीं सकते। धर्म तो साधना है। वह तो स्वयं के जीवन के परिवर्तन का विज्ञान है। मूलतः उसका संबंध समूह से नहीं, व्यक्ति से ही है। और, इसीलिए समस्त धर्म संगठनों के रूप में तो एक दूसरे के विरोध में हैं, किंतु साधना के रूप में एक ही सत्य तक ले जाने वाले सहयोगी मार्ग हैं।"
इस बीच कुछ व्यक्ति और आ गए थे। उनमें से एक ने कहाः "क्या आप समस्त धर्मों को एक, और समान समझते हैं?"
वे हंसने लगे और बोलेः "धर्म तो एक ही है। सत्य एक ही हो सकता है। किंतु उस एक सत्य तक, उस परम अनुभूति तक पहुंचने के रास्ते अनेक हो सकते हैं। वस्तुतः तो जितने पहुंचने वाले हैं, उतने ही मार्ग भी हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना मार्ग बनाना पड़ता है। कोई बने बनाए रास्ते नहीं हैं। जो जहां है, उसे वहीं से प्रारंभ करना पड़ेगा। वैसा ही प्रारंभ किसी अन्य का नहीं हो सकता है। प्रारंभ भिन्न, किंतु अंत समान होता है। व्यक्तिगत चित्त भिन्न हैं, इसीलिए प्रारंभ भिन्न हैं, धर्म एक है, इसीलिए अंत समान हैं। धर्मों का भेद धर्म का नहीं, हमारे व्यक्तियों का भेद है। यही संप्रदायों की उत्पत्ति का कारण है। संप्रदाय सत्य के कारण नहीं, हमारे कारण विभाजित हैं। किंतु स्मरण रहे कि विभाजित होना, विरोध में होना नहीं है। एक ही गंतव्य पर पहुंचने वाले मार्ग भिन्न हो सकते हैं, पर इस कारण वे विरोध में नहीं कहे जा सकते, वरन उन्हें सहयोगी कहना होगा, क्योंकि वे एक ही जगह पहुंचाते हैं। धर्म संप्रदायों में यह सहयोग बोध हो, तो बहुत शुभ फलित हो सकता है।"
फिर रात्रि हो गई, और अंधकार घिर गया। आकाश में कुछ तारे चमकने लगे थे। आचार्य श्री ने कहाः "जैसे तारे भिन्न हैं, किंतु उनसे बहता प्रकाश एक है, ऐसे ही संप्रदाय भिन्न हैं, पर उनमें जो धर्म है, वह एक ही है।"

आठ

आज सुबह ही सुबह कुछ व्यक्ति आचार्य श्री को मिलने आ गए हैं। वे स्नान करके आए हैं और धूप में बैठे हैं। उनसे कोई पूछता है कि जीवन को किस भांति जीना चाहिए? वे थोड़ी देर चुप रहते हैं और फिर बोलते हैंः "दर्पण की भांतिः स्वागत सबका किंतु संग्रह किसी का भी नहीं। चित्त संस्कारों और प्रभावों को न पकड़े, ऐसा जीवन ही शुद्ध जीवन है। जो बीत जावे उसे बीत जाने दें और जो अभी न आया हो, उसकी चिंता न करें। ऐसी साधना से ही व्यक्ति वर्तमान से संयुक्त होता है और सत्ता में उसकी जड़ों को गहराई मिलती है। अतीत और भविष्य मानस सत्ताएं हैं, जो उनमें व्यस्त और घिरा रहता है, वह जीवन को नहीं जान पाता। जीवन तो अभी है और यहां हैं। उसे और कहीं जो खोजता है, वह जो देता है।"
वे यह बोल कर चुप ही हुए थे कि पक्षियों की एक कतार सामने के वृक्षों
से उड़ी और जोर की हवाओं ने आकर वृक्षों को हिलाना आरंभ कर दिया। यह देख कर उन्होंने कहाः "वृक्षों की भांति हो जाओ और पक्षियों की भांति शुद्ध वर्तमान में जिओ। उस भांति जीने से जो निर्दोष सरलता उपलब्ध होती है, वही सत्य को जानने का द्वार है।"

नौ

आकाश से बादल छट गए थे। खूब पानी बरसता था किंतु अब सूरज निकल आया था
और वर्षा से धुली हुई धूप बहुत प्रीतिकर लग रही थी। थोड़ी ही देर पहले बहुत बड़ा इंद्रघनुष भी आकाश में बना था। हम बाहर निकलकर फुलवारी में आ गए थे। आचार्य श्री इंद्रधनुष को दिखा कर हमसे कहा थाः "यह जगत, यह शरीर, यह
मन इंद्रधनुषों की भांति है, सुंदर किंतु वास्तविक नहीं। इसके सौंदर्य को जानो किंतु इसके स्वप्न होने को भी। फिर, यह बांध नहीं पाता है। किंतु हम तो स्वप्नों को भी स्वप्न नहीं जान पाते हैं। वे भी जब हम उनमें होते हैं, तो हमें सत्य ही मालूम होते हैं।"
मैंने उनसे पूछाः "क्या स्वप्न में, जो हम देख रहे हैं, वह सत्य नहीं, स्वप्न है, इसे स्मरण रखने का कोई उपाय है?"
वे बोलेः "जो व्यक्ति जाग्रत अवस्था में यह स्मरण रखता है कि वह जो भी देख रहा है, वह सब स्वप्न है, तब वह धीरे धीरे स्वप्न में भी जानने लगता है कि जो वह देख रहा है, वह सत्य नहीं है। जाग्रत को क्योंकि हम सत्य मानते हैं, इसीलिए स्वप्न भी सत्य मालूम होते हैं। जाग्रत में जो हमारे चित्त की आदत है, स्वप्न में उसी का प्रतिफलन होता है।"
उनकी इन बातों को सुन हम सोच में पड़ गए। वे जो भी कहते हैं, उससे बहुत सोच विचार पैदा होता है। उनकी जरा सी बात कितने अनुभव और कितनी पैनी दृष्टि को अपने में लिए हुए होती है?

दस

रात्रि के सन्नाटे में हम आचार्य श्री के निकट बैठे हैं। बाहर घना अंधकार है। भीतर धीमी सी रोशनी जल रही है और धूप का धुंआं उठ कर वातावरण को सुवास से भर रहा है। हम जहां बैठे हैं, वह एक छोटे से गांव का छोटा सा मंदिर है।
किसी ने पूछाः "क्या ज्ञान की खोज में किसी को गुरु बनाना आवश्यक है?" आचार्य श्री ने कहाः "नहीं। किसी को नहीं, सभी को गुरु बनाना आवश्यक है। आंखें खुली हों और सीखने को मन मुक्त और सहज हो तो सारा जगत ही गुरु है।"

फिर थोड़ी देर वे चुप रहे और पुनः कहने लगेः "संत मलूक ने कहा है कि उन्हें एक शराबी, एक छोटे से बालक और प्रेम में पागल एक युवती के समक्ष बहुत लज्जित होना पड़ा था। पर फिर ये तीनों ही उनके गुरु भी बन गए थे। उन तीनों घटनाओं का बड़ा मधुर इतिहास है। एक दिन एक शराबी नशे में चूर लड़खड़ाता जा रहा था। मलूक ने उससे कहाः "मित्र, पांव सम्हाल कर रखो, देखो कहीं गिर न जाना।" शराबी जोर से हंसने लगा। उत्तर में बोलाः "भले मानस! पहले अपने पैर तो सम्हाल। मैं गिरा भी तो शरीर धोने भर से साफ हो जाऊंगा लेकिन तू गिरा तो शुद्धि कठिन है।" मलूक ने सुना और सोचा तो पाया कि बात ठीक ही थी। दूसरी बार एक बालक दीया लिए जा रहा था। मलूक ने उससे पूछाः "यह दीया कहां से लाए हो?" इतने में ही हवा का एक झोंका आया और दीये को बुझा गया। वह बालक बोलाः "अब तुम्हीं पहले बताओ कि दीया कहां चला गया है? तब मैं बताऊं कि दीया कहां से लाया था?" मलूक ने अपने अज्ञान को जाना और पहचाना और ज्ञान के भ्रम को विदा दे दी। तीसरी घटना ऐसे हुई कि एक युवती अपने प्रेमी को ढूंढती हुई मलूक के पास आई। उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे और उसने घूंघट भी नहीं निकाला था। मलूक उसे इस प्रकार निर्लज्ज देख कर बोलेः "पहले अपने कपड़े तो सम्हाल, मुंह तो ढंक फिर जो कहना हो सो कहना।" वह युवती बोलीः "बंधु, मैं प्रभु के हाथों रचे एक प्राणी के प्रेम में मुग्ध होकर बेहोश हो रही हूं। मुझे अपनी देह का भी भान नहीं रहा है और आप मुझे सचेत न कर देते तो मैं ऐसे ही उसे खोजने बाजार में भी निकल जाती। पर यह कितने आश्चर्य की बात है कि प्रभु के प्रेम में पागल होकर भी आपको इतनी सुधि है कि आप यह जान गए कि मेरा मुख खुला है या ढंका और वस्त्र मेरे सुव्यवस्थित हैं या नहीं? प्रभु में लगी दृष्टि क्या यह सब भी जान सकती है?" मलूक जैसे नींद से जागे और देखा कि निश्चय ही जो क्षुद्र को देख रहा है। उसके समक्ष विराट कैसे हो सकता है।"

ग्यारह

हम रेत पर बैठे थे। ग्रीष्म की रात थी और आकाश में अत्यंत शुभ्र ज्योत्स्ना थी। बैठे बैठे हम सब रेत पर लकीरें खींचने लगे आचार्य श्री ने कहाः "कितने लोग हैं, जो अपना जीवन रेत पर लकीरें खींचने में ही गवां देते हैं?"
हमने सुना तो हमारे हाथ रुक गए। वे हंसने लगे और बोलेः "इतने शीघ्र न कोई सुनता है और न रुकता है? मनुष्य से अधिक बधिर और कौन है? और, स्वयं को ही स्वयं के विपरीत जाने से रोकने में भी मनुष्य बहुत असमर्थ है।"
फिर वे चांद को देखते रहे और बोलेः "जीवन अनंत आलोक, आनंद और अमृत को पाने के लिए एक अवसर है, लेकिन हम उसे समय की रेत पर लकीरें खींचने में ही व्यय कर देते हैं, यह खेल बहुत महंगा है और बहुत श्रम से हम जो लकीरें खींच भी पाते हैं, वे हमारे उठते उठते ही रौंद दी जाती है और आंधियां उन स्थानों को पुनः साफ कर देंगी, ताकि दूसरों को अपनी लकीरें खींचने के लिए स्थान हो सके। जिन स्थानों पर तुमने लकीरें खींची और हस्ताक्षर किए हैं, उन स्थानों पर अनंत अनंत लोगों ने अपने हस्ताक्षर किए हैं, यह खेल बहुत सनातन है और जो लोग इस खेल की निद्रा से जागते हैं, वे ही केवल विजेता घोषित होते हैं। जो खेलते ही रहते हैं, वे हारते चले जाते हैं और जो जागते हैं और रुकते हैं वे जीत जाते हैं।"

बारह

"मैं विचारों से पीड़ित हूं। पहले शायद ऐसा नहीं था लेकिन जब से स्वयं
के भीतर ध्यान दिया तब से बहुत अशांति मालूम होती है। विचारों की अंसगत।।
व्यर्थ की गति से घबड़ा गया हूं। चौबीस घंटे ही चित्त की अशांत गतिविधि को बोध बना रहा है और कभी कभी तो शक होता है कि मैं कहीं पागल न हो जाऊं? मुझे मार्ग बताएं।। बताएं कि मैं क्या करूं? क्या न करूं? इन विचारों से मुक्ति का क्या कोई उपाय नहीं है?" एक वृद्धजन ने यह कहा है। निश्चय ही वे विचारों से पीड़ित मालूम होते हैं। उनका माथा गवाही है और उनकी आंखें गवाही हैं। आचार्य श्री थोड़ी देर चुप रहे। ऐसी उनकी आदत है। अक्सर कुछ कहने के पूर्व वे चुप रह जाते हैं। जैसे कि उन मौन क्षणों में वे सामने वाले व्यक्ति में झांकते हैं। शायद किसी आंतरिक तल पर वे संबंध बना लेते हैं तभी बोलते हैं। फिर धीरे-धीरे वे कहने लगेः "यह बोध शुभ है। विचारों की व्यर्थता दिखाई पड़ती है। उनके आवागमन के कारण पैदा हुई अशांति अनुभव होती है। बहुतों को तो यह भी ध्यान में नहीं जाता है। इस बोध के बाद निश्चय ही उनसे मुक्ति के लिए कुछ किया जा सकता है।
साधारणतः जब तक मनुष्य प्रत्येक विचार की गति के साथ गतिमय होता रहता है, तब तक उसे विचारों से पैदा हो रही अशांति का अनुभव ही नहीं होता है लेकिन जब वह रुक कर।। ठहर कर विचारों को देखता है तभी उसे उनकी सतत दौड़ और अशांति का प्रत्यक्ष होता है। विचारों से मुक्ति की दिशा में यह आवश्यक अनुभूति है। हम खड़े होकर देखें तभी विचारों की व्यर्थ भाग-दौड़ का पता चल सकता है। निश्चय ही जो उनके साथ ही दौड़ता रहता है, वह इसे कैसे जान सकता है?
"इसीलिए ही मैंने कहा कि आपका बोध शुभ है और उससे घबड़ावें नहीं बल्कि प्रसन्न हों। लेकिन इतने पर ही रुक नहीं जाना है। अब विचारों की प्रक्रिया के प्रति एक अत्यंत निर्वैयक्तिक भाव को अपनावें।। एक मात्र दर्शक का भाव। जैसे देखने मात्र से ज्यादा आपका उनसे और कोई संबंध नहीं और जब विचारों के बादल मन के आकाश को घेरें और गति करें तो उनसे पूछेंः "विचारो! तुम किसके हो? क्या तुम मेरे हो?" और आपको प्रय्युत्तर मिलेगा नहीं। क्योंकि विचार आपके नहीं है। वे आपके अतिथि हैं। आपके मन को उन्होंने सराय बनाया हुआ है। उन्हें अपना मानना भूल है और वही भूल उनसे मुक्त नहीं होने देती है। उन्हें अपना मानने से जो तादात्म्य पैदा होता है, वही उन्हें विसर्जित नहीं होने देता है। ऐसे जो मात्र अतिथि हैं, वे ही स्थायी निवासी बन जाते हैं। विचारों को निर्वैयक्तिक भाव से देखने से क्रमशः उनसे संबंध टूटता है। जब कोई वासना उठे या कि कोई विचार तब ध्यान दें कि यह वासना उठ रही है या कि वह विचार उठ रहा है, फिर देखें और जानें कि अब वह अपने पूरे रूप से मन के समक्ष है, फिर जानें कि अब वह विलीन हो रहा है, अब विलीन हो चुका है, अब दूसरा विचार उठ रहा है, बन रहा है, बन गया है, विलीन हो रहा है, विलीन हो गया है, और इस भांति शांति से, अनुद्विग्न भाव से, दर्शक की भांति, साक्षी बन कर और विचारों की सतत धारा का निरीक्षण करें। उनके प्रति कोई भी भाव न बनावें। अच्छा या बुरा। उनके संबंध में कोई निर्णय न लें।। शुभ या अशुभ। वह देखें और निरीक्षण करें। इसी भांति शांत चुनाव रहित निरीक्षण से विचारों की गति क्षीण होती जाती है और अंततः निर्विचार समाधि उपलब्ध होती है। निर्विचार समाधि में विचार तो विलीन हो जाते हैं और विचार शक्ति का उदभव होता है। उस विचार-शक्ति को ही मैं प्रज्ञा कहता हूं। विचार-शक्ति के जागरण के लिए विचारों से मुक्त होना अत्यंत आवश्यक है।"
मैं वृद्ध को देख रही हूं। सुनते ही उनके माथे का तनाव शिथिल हो गया
है और उनकी आंखें शांत मालूम हो रही हैं। फिर उन्होंने एक गहरी श्वास ली है, जैसे कि कोई भार हट गया हो और वे किसी संकल्प पर पहुंच गए हों। अंततः उन्होंने कहाः "क्या मेरे लिए और कोई आज्ञा है?"
आचार्य श्री बोलेः "सत्य की खोज के मार्ग पर।। स्वयं की खोज के मार्ग
पर दो सूत्र स्मरण रखने आवश्यक हैं। पहलाः प्रारंभ करो और दूसराः जारी रखो। इन दो स्वर्ण सूत्रों का जो अनुगमन करता है, वह अवश्य ही गंतव्य पर पहुंच जाता है।"

तेरह

एक दिन आचार्य श्री ने एक कथा कही थी। किसी ने उनसे पूछा था कि जब जीवन
से समस्त वासनाएं क्षीण हो जाती हैं, तो वैसे व्यक्ति का जीवन कैसा होता है? वे बोले थे कि ऊपर से देखने में तो कोई अंतर नहीं पड़ता है पर भीतर सब बदल जाता है। एक अर्थ में सब वही होता है, जो पहले था किंतु दूसरे अर्थ में वह कुछ भी नहीं रह जाता है।
फिर थोड़ी देर चुप रह कर उन्होंने कहा था। एक सदगुरु से यही बात किसी
ने पूछी थी। उसने पूछने वाले को एक कपड़े का टुकड़ा और जलती हुई अग्नि लाने को कहा था और बाद मे लाए गए कपड़े को जमीन में चार छोटी खूंटियों से बांध कर आग लगा दी थी। उस आग में कपड़ा तो जल गया था, लेकिन उसका ढांचा और बनावट पूरी की पूरी पूर्ववत ही शेष रह गई थी, अब कपड़ा नहीं भी था और था भी। ऐसा ही जीवन-मुक्त का जीवन होता है। ज्ञानाग्नि में सब जल जाता है, बस राख का बना ढांचा ही शेष होता है।"
यह बात स्वयं उनके ही संबंध में कितनी सच है। जो उनकी जीवनचर्या को जानते हैं, उन्हें उसमें राख का ढांचा ही दिखाई पड़ेगा। एक सामान्यजन की भांति ही वे जीते हैं। बाहर किसी विशेषता को उन्होंने नहीं ओढ़ा है। पर उन जैसा असामान्य जीवन खोजना कठिन है। वे जहां दिखाई पड़ते हैं, वहां बिल्कुल भी नहीं हैं। उनके उठने, बैठने, बोलने सबमें वे जहां हैं, वहां साथ ही नहीं भी है, शायद इस आंतरिक क्रांति को ही वे वास्तविक संन्यास कहते हैं।

चौदह

सर्दियों की सुबह है। सूर्य की किरणें सुखद लग रही हैं। हम धूप में बैठे हैं और पक्षियों के गीत सुन रहे हैं। तभी कुछ लोग मिलने आ गए हैं। उनमें एक संन्यासी भी हैं। वे पूछते हैंः "क्या सत्य को पाने का कोई अत्यंत सरल और सुगम मार्ग नहीं है?"
आचार्य श्री ने उनसे कहाः "जीवन का नियम है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य चुकाना होता है। बिना मूल्य कुछ भी नहीं मिलता। और फिर जितनी बहुमूल्य वस्तु हो उतना ही अधिक मूल्य भी चुकाना होता है। सत्य के लिए तो स्वयं को ही देना होता है। उससे कम मूल्य पर सत्य की प्राप्ति असंभव है। सत्य को पाना यानी स्वयं को खोना। लेकिन स्वयं को खोकर ही स्वयं की उपलब्धि भी होती है, जो स्वयं को बचाता है वह सत्य को तो खोता ही है, स्वयं को भी खो देता है। क्या आपको कभी यह अनुभव नहीं होता है कि "मैं" अभी वस्तुतः "मैं" नहीं हूं? जिस "मैं" को हम स्वयं मान कर चल रहे हैं यदि वह वास्तविक होता तो सत्य की खोज का प्रश्न ही नहीं था।
"वह सत्य नहीं है, इसीलिए तो सत्य को पाने की प्यास है। लेकिन स्वयं के भीतर किसी न किसी चेतन अचेतन तल पर हमें सत्य का भी धुंधला अनुभव हो रहा है, अन्यथा इस "मैं" को असत्य अनुभव करने का भी कोई कारण नहीं था। इस तथाकथित "मैं" को खोना होता है। उसके ही नीचे तो सत्य है। वह सत्य इस "मैं" से ही आवृत है। स्वयं की सतह पर यह "मैं" है, स्वयं की गहराई में वह "मैं" है। स्वयं की आत्यंतिक गहराई में जो "मैं" है, वही सत्य है क्योंकि वह गहराई स्वयं की ही नहीं, सर्व की भी है। जो स्वयं के भीतर जितना गहरा जाता है, वह सर्व के भीतर भी उतना ही गहरा पहुंच जाता है। स्वयं के केंद्र पर ही सत्य का, परमात्मा का वास है। मित्र, केंद्र को पाने के लिए परिधि को खोना ही पड़ता है। इस मूल्य को चुकाए बिना कोई मार्ग नहीं। और यह मूल्य चुकाना सर्वाधिक कठिन तप है क्योंकि स्वयं को खोने से अधिक कठिन और क्या हो सकता है?"

पंद्रह

रात्रि पड़ोस में कोई मर गया है। सुबह ही हमने आचार्य श्री को खबर दी।
वे बोलेः "मृत्यु तो निश्चित है। उसके अतिरिक्त और कुछ भी निश्चित नहीं है। जन्म में ही मृत्यु छिपी है। जो इस सत्य को नहीं जानता है, वह जीवन को व्यर्थ ही खो देता है और जो इस सत्य को जान लेता है उसका जीवन अमृत को उपलब्ध हो जाता है।"
हम चुपचाप बैठे रहे। आचार्य श्री पुनः कहने लगेः "मैं मृत्यु से नहीं, लेकिन किसी के जीवन को व्यर्थ जाते देख जरूर ही दुखी होता हूं। वही वास्तविक मृत्यु है। शरीर का अंत नहीं, जीवन का व्यर्थ जाना ही वस्तुतः मृत्यु है।"
फिर उन्होंने एक बोधकथा कहीः "राजा जनक को विदेह कहा जाता था। किसी दिन उनके एक युवक आमात्य ने पूछाः "महाराज, आप देह रहते विदेह कैसे हैं?" जनक हंसे और चुप रह गए। कुछ दिनों बाद उन्होंने उस युवक को भोजन पर आमंत्रित किया। यह सौभाग्य मुश्किल से ही किसी को मिलता था। उस युवक की खुशी का ठिकाना नहीं था। लेकिन दूसरे दिन उसके विषाद का भी अंत न रहा उसने भोजन के लिए राजमहल जाते समय चौराहे पार ढिंढोरा सुना कि उसी दिन संध्या किसी राज अपराध के लिए उसे फांसी दी जाने वाली है। यह कैसा उपहास! दोपहर राजमहल में आतिथ्य और संध्या राजाज्ञा से मृत्यु! वह फिर भी किसी भांति भोजन को गया। राजा ने रसोइयों को कहा था कि भोजन में नमक बिल्कुल भी न डाला जावे। भोजन के समय जनक स्वयं उपस्थित थे और बहुत प्रेम से उन्होंने युवक को भोजन कराया। वह युवक भोजन तो करता रहा लेकिन मन उसका वहां उपस्थित नहीं था। होता भी कैसे? एक एक क्षण बीत रहा था और मृत्यु निकट आ रही थी। राजा ने भोजनोपरांत पूछाः "बंधु, भोजन में किसी प्रकार की कमी तो न थी?" वह युवक आमात्य जैसे निद्रा से जागा और बोलाः "भोजन? हां, भोजन मैंने किया तो, पर स्मरण नहीं है। मृत्यु के भय ने स्वाद छीन लिया है। सुधि भी छीन ली है। मैं जहां हूं वहां नहीं हूं।" राजा जनक यह सुन हंसने लगे थे और कहा था कि वह आपके प्रश्न का उत्तर है। घबड़ाएं नहीं, संध्या आपको मरना नहीं है। यह सब मेरी योजना थी। मृत्यु जिसे दिखती है, वह देह रहते भी विदेह हो जाता है और विदेह हो जाता है उसके लिए मृत्यु विलीन हो जाती है। वैसी चेतना में व्यक्ति उसको उपलब्ध हो जाता है जो कि अमृत है।"

सोलह

"विचार भी सीखना होता है। सभंवतः सबसे सूक्ष्म विज्ञान वही है। स्मरण रहे कि विचारों को इकट्ठा कर लेना एक बात है। विचार की शक्ति को उपलब्ध करना बिल्कुल दूसरी; लेकिन, विचार संग्रह को ही विचार शक्ति समझ लिया जाता है। संग्रह शक्ति नहीं है। उस भांति तो केवल शक्ति का अभाव दब जाता है। और आंखों से ओझल हो जाता है। यह आत्मवंचना बहुत घातक है। फिर भी यह भ्रांति बहुत गहरी और व्यापक है। इसका ही परिणाम है कि विचार तो जगत में बढ़ते जाते हैं। लेकिन विचार की शक्ति क्षीण होती जाती है। विचारशील व्यक्ति दिखाई पड़ने बंद ही हो गए हैं।"
सुबह ही सुबह आचार्य श्री ने उपरोक्त शब्द कहे। हम सब घूमकर लौटते थे। किसी ने विचार के संबंध में कुछ पूछा, तभी उन्होंने यह कहा।
मैंने पूछाः "क्या हमारे विद्यालय विचार नहीं सिखाते हैं?" वे हंसने लगे और बोलेः "विचार याद कराते हैं। लेकिन विचार करना? नहीं विचार करना नहीं सिखाते हैंः विचार को बाहर से डालना मात्र स्मृति को भरता है। विचार को भीतर से जगाना ज्ञान है। विचार की शक्ति प्रत्येक में प्रसुप्त है। उसे दूसरों के विचारों से भरना नहीं वरन उघाड़ना और आविष्कृत करना है। हम सब निरंतर विचारों से भरे हैं लेकिन कोई यदि पूछे कि क्या आप कभी विचार

करते हैं। वस्तुतः तो अधिकांश को ज्ञात ही नहीं है कि उनमें विचार की क्षमता भी है। और ज्ञात होगा भी कैसे? हम केवल उन्हीं क्षमताओं के प्रति सचेत हो पाते हैं जिनका कि हम उपयोग करते हैं। सक्रिय उपयोग से ही क्षमताएं वास्तविकताओं में परिणत होती हैं। निष्क्रिय पड़ी क्षमताएं सहज ही विस्मरण हो जावें तो कोई आश्चर्य नहीं है। विचार-शक्ति ऐसी ही निष्क्रिय पड़ी शक्ति है। साधारणतः हम स्वचालित यंत्रों की भांति प्रतिक्रियाएं करते हैं और विचार का कोई उपयोग ही नहीं होता है। बाहर से आई उत्तेजनाएं हमें यंत्रवत चालित कर देती हैं और इस उत्तेजना- प्रतिक्रिया के मध्य विचार के लिए कोई अवकाश ही नहीं छूटता है, क्या ऐसा ही नहीं है? क्या तुम्हारे चित्त से टकराती उत्तेजनाओं और तुम्हारी प्रतिक्रियाओं के मध्य में विचार को स्थान होता है? क्या किसी के द्वारा अपमानित किए जाने और क्रोधान्वित होने के मध्य विचार होता है? यदि नहीं, तो फिर तुम्हें विचार की शक्ति का न बोध है। न तुम्हारे जीवन में उसका कोई स्थान ही है। विचार का अर्थ है कि प्रत्येक प्रतिक्रिया सचेतन हो। अचेतन प्रतिक्रिया अविचार है। सचेतन प्रतिक्रिया ही भीतर विचार की सक्रिय शक्ति की सूचना बनती है। विचारशील व्यक्ति किसी भी उत्तेजन के प्रति प्रतिक्रिया करने के पूर्व विचारेगा कि वह क्या कर रहा है और क्यों कर रहा है? वह अपने भीतर चित्त की गति के प्रति जागरूक होगा और अपने कर्म के प्रति अमूर्च्छित; वह जो भी करेगा होश में करेगा। उसके समस्त कर्मों के पीछे जागरूकता होगी। वह बाह्य उत्तेजनाओं के हाथों में यंत्र नहीं बनेगा। वह अपनी चेतना खोकर किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होगा। वस्तुतः वह व्यक्ति होगा ठीक अर्थों में व्यक्ति, क्योंकि जो मूर्च्छित है, उसे व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है। यदि इसके विपरीत होता है तो जानना चाहिए कि विचार का अभाव है और अभी उस शक्ति का आविर्भाव नहीं हुआ है जो कि स्वयं से परिचित कराती है और यांत्रिक परतंत्रता से मुक्त करती है।"

सत्रह

एक छोटे से गांव में हम ठहरे हुए हैं। बहुत लोग मिलने आए हैं। भिन्न-भिन्न उनके प्रश्न हैं। पर प्यास तो सबकी एक ही है। सभी जीवन के अर्थ को पाना चाहते हैं। जैसा जीवन है वह व्यर्थ प्रतीत होता है। आचार्य श्री ने कहाः "जीवन में उतना ही अर्थ आता है, जितना हम स्वयं उसमें डालते हैं। अर्थ है नहीं, निर्मित करना होता है। जो निष्क्रिय रूप से अर्थ पाने के विचार में हो, वह निष्फल ही रहेगा। उसकी आकांक्षाएं पूरी नहीं हो सकती हैं। "जीवन की सार्थकता निष्क्रिय उपलब्धि नहीं वरन सृजनात्मक श्रम की ही निष्पत्ति है।"
मिलने वालों में एक मूर्तिकार भी है। उन्होंने कहाः "मैं मूर्तियां बनाता हूं। सृजन करता हूं फिर भी किसी गहरी संतुष्टि को उपलब्ध नहीं हूं। मैं क्या करूं?"
आचार्य श्री ने एक क्षण बहुत गहरे उन्हें देखा और कहाः "वस्तुओं का निर्माण वास्तविक सृजन नहीं है। वास्तविक सृजन तो स्वयं का सृजन है। पत्थरों को मूर्तियों में बदलना, स्वयं को दिव्यता में बदलने से बहुत सरल बात है। पत्थरों से बहुत कठिन और कठोर यह स्वयं का व्यक्तित्व है। इससे अधिक कठोर और कोई पाषाण नहीं। इस स्वयं के पाषाण को ही आकार और अर्थ देना वास्तविक सृजनात्मकता है। संतुष्टि इससे ही निष्पन्न होती है। आनंद इससे ही प्रवाहित होता है। तुम पूछते होः "मैं क्या करूं?" इस स्वयं के ही पत्थर पर अब तुम प्रयोग करो। मूर्तियां बहुत बनाई। अब स्वयं को ही बनाओ। कवि शब्दों में सौंदर्य डालते हैं। चित्रकार रंगों को सजीव करते हैं। मूर्तिकार पत्थरों में प्राण को प्रतिष्ठा देते हैं पर जो स्वयं को सौंदर्य और जीवन देने में सफल हो जाता है। उससे बड़ा सर्जक और कोई भी नहीं हैं। जीवन से बड़ी और कोई कला नहीं है।"

अठारह

रात्रि बीत गई है। हम विदा होने को हैं। गांव के लोग विदा देने एकत्रित हो गए हैं।
एक युवक पूछता हैः "मैं बहुत दुखी और चिंतित हूं। कारण खोजता हूं, तो स्पष्टतः कुछ समझ में नहीं आता। अपनी परिस्थितियों से ऊब गया हूं। उन्हें बदलना चाहता हूं। शायद, नई परिस्थितियों में बदल हो जावे और मैं शांति पा सकूं?"
आचार्य श्री ने कहाः "सुख या दुख बाह्य घटनाएं नहीं हैं। बाहर जो है उससे कोई सुखी या दुखी नहीं होता। बाहर तो मात्र तथ्य है। उनमें न सुख है, न दुख। सुख और दुख तो उनके प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं में छिपे होते हैं। वस्तुतः तथ्यों की कोई महता नहीं है। महता है उनके प्रति हमारे रुख की।।
उनके प्रति हमारी दृष्टि की। हमारी दृष्टि पर ही सब निर्भर होता है। तथ्य नहीं, व्यक्ति महत्वपूर्ण है। वह जो तुम्हारे पास है, वह नहीं, तुम जो हो, वही अंततः निर्धारक है। सुख या दुख हममें बैठे हुए हैं। इपिक्टेक्टस का वचन हैः "यदि कोई मनुष्य दुखी हो तो वह जाने कि अपने ही कारण वैसा है।" यही मैं तुमसे कहता हूं। मित्र, कोई और नहीं, हम ही कारण हैं। जो भी हम हैं, उसके लिए हम ही कारण हैं। इस सत्य को ठीक से समझना, क्योंकि इस समझ पर ही जीवन का परिवर्तन निर्भर करता है। दुख हो, तो जानो कि दृष्टि में कोई भूल है। दुखी जीवन भ्रांत दृष्टि का ही परिणाम होता है। और सुखी जीवन सम्यक दृष्टि का। परिस्थिति को बदल कर भी मन स्थिति वही रही तो बहुत भेद नहीं पड़ता है। स्मरण रखना कि जब दुख हो तो स्वयं में ही कारण खोजना।। बाहर नहीं। स्वयं में ही दोष देखना।। अन्य में नहीं। और तब क्रमशः तुम्हें अपनी ही प्रतिक्रियाओं में छिपे कारण मिलने लगेंगे और एक नये जीवन का प्रारंभ हो जावेगा। जो बाहर दोष देखता है, वह भटक जाता है, और जो दोष स्वयं में खोजता है, वह उनके अतिक्रिमण में निश्चय ही सफल होता है।"

उन्नीस

पूर्णिमा की रात है। नदी पर रेत में हम बैठे हैं। आचार्य श्री कभी कभी अपने से ही कुछ कहने लगते हैं। निश्चय ही हमारे भीतर छिपी किसी प्यास का ही वह उत्तर होता है। शायद हमें भी जिस प्यास का पता नहीं है, उसे भी वे अवश्य ही जानते हैं।
उन्होंने आज अनायास ही कहना शुरू कियाः "मैं जगत में विचार का ह्वास होते देखता हूं। विचार से मेरा अर्थ विचारों से नहीं है। विचारों की तो बाढ़ आई हुई है और विचार उस बाढ़ में बिल्कुल ही डूब गया है। विचारों में, विचार को डूबने से बचाना है।"
हममें किसी ने पूछाः "विचार से आपका क्या अभिप्राय है? क्या अर्थ है?" "विचार का क्या अर्थ है? विचार का अर्थ है यह जानना कि क्या क्षणिक है
और क्या शाश्वत है? क्या मर्त्य है और क्या अमृत है? क्या वस्तुतः नहीं है और क्या वस्तुतः है? जो विचारहीन है, वे क्षणिक के पीछे जीवन को व्यय कर देते हैं और जिनका विचार जाग्रत है वे क्षणिक को नहीं, शाश्वत को खोजते हैं क्योंकि जो क्षणिक से वह है ही नहीं। जो शाश्वत है वस्तुतः वहीं है। और जो है "उसमें ही जीवन है," "जो नहीं है", उसमें तो केवल अपव्यय है और मृत्यु है। विचारहीन स्वप्न के पीछे भागते हैं और स्वप्नों के लिए निद्रा आवश्यक है इसीलिए वे सब भांति की मूर्च्छाओं को खोजते हैं। मूर्च्छा की खोज अविचार का लक्षण है। विचारशील सत्य का अनुसंधान करते हैं। निश्चय ही अनुसंधान के लिए भागना नहीं, रुकना आवश्यक है और सोना नहीं जागना जरूरी है। इसीलिए वे अमूर्च्छा को साधते हैं और निद्रा को तोड़ते हैं। अमूचि्र्छत जीवन विचार का प्रतीक है। अमूर्च्छा विचार है।"

फिर थोड़ी देर बाद उन्होंने एक घटना बताईः
"सिद्धार्थ गौतमी के द्वार से निकल रहे थे। उन्हें देखकर गौतमी ने कहाः "धन्य है वह माता जिसका ऐसा पुत्र है, धन्य है वह पिता जिसका ऐसा प्रतिबिंब है और धन्य है वह पत्नी जिसका ऐसा स्वामी है।" सिद्धार्थ ने सोचाः "यह धन्यता और आनंद तो क्षणिक है लेकिन क्या ऐसी भी कोई धन्यता है जो कि क्षणिक न हो? क्या ऐसा कोई मार्ग नहीं है, जिससे कि शाश्वत धन्यता मिल सके और मिल सके अक्षुण्ण शांति और आनंद? क्योंकि जो आज है और कल नहीं है वह वस्तुतः आज भी नहीं है।" इसे मैं विचार कहता हूं।। इसे मैं बोध कहता हूं।।
इसे मैं विवेक कहता हूं। और जहां विचार है, वहां द्वार भी है। सिद्धार्थ के हृदय में विचार की बिजली कौंधी तो उन्हें स्पष्ट दिखाई दिया कि जब तक वासना है तब तक शांति कैसे संभव है? तृष्णा की अग्नि जब तक प्रज्वलित है तब तक सत्य की शीतलता को कैसे पाया जा सकता है? विचार से द्वार मिलता है और द्वार मिले तो स्वयं में सोई हुई चेतना गंतव्य की ओर गति भी करती है। सिद्धार्थ के हृदय में एक अभिनव संकल्प सघन हो गयाः "मैं तृष्णा की आग को बुझा कर उसे जानूंगा जो कि सत्य है। मैं क्षण के जीवन से जाग कर उसके दर्शन करूंगा जो कि शाश्वत है।" उन्होंने अपने गले का बहुमूल्य हार उतार कर गौतमी को गुरु दक्षिणा दी। उनके जीवन में निश्चय ही एक मोड़ आ गया था। विचार से मोड़ आता है और विचार से क्रांति आती है। सोचो क्या तुम्हारे भीतर विचार है?

बीस

आचार्य श्री आज बंदीगृह में गए थे। वहां उन्होंने बंदियों से कहाः "मित्रो, यह मत सोचना कि तुम ही बंदी हो। जो बंदी नहीं हैं। वे भी बंदी ही हैं। वासनाएं जहां हैं, वहां बंधन हैं। अज्ञान जहां है, वहां बंदीगृह है। और इन बंधनों को मनुष्य स्वयं ही निर्मित करता है और इन बंदीगृह की दीवारें भी वह स्वयं ही अपने श्रम से बनाता है। यह भले ही आश्चर्यजनक प्रतीत हो, लेकिन सत्य यही है कि अधिकतर जीवन स्वयं के लिए ही कारगृह बनाने में व्यय होते हैं। धर्म को जो नहीं खोजता है। वह जाने अनजाने अधर्म में जीता है और अधर्म अमुक्ति है। प्रकाश की दिशा में जो गति नहीं करता है। वह निरंतर अंधकार से और अंधकार में गिरता जाता है। और अंधकार आत्मघात है। सत्य की अभीप्सा जिसमें नहीं है। वह स्वतंत्र नहीं हो सकता है। सत्य स्वतंत्रता लाता है। सत्य स्वतंत्रता है। और स्मरण रहे कि जो परतंत्र है परमात्मा उसके लिए नहीं है। परतंत्रता की चित्तभूमि में परमात्मा के फूल नहीं लगते हैं। उसके लिए स्वतंत्रता की भूमि चाहिए और सरलता का खाद और स्वच्छता का जल और शून्यता का बीज; और सबसे ऊपर सजगता का पहरा।
इन शर्तों को जो पूरा करने का साहस और शक्ति दिखलाता है। उसके जीवन से सारे बंधन गिर जाते हैं। और उसकी आत्मा से परतंत्रता की राख झड़ जाती है और उसके भीतर परमात्मा की प्रसुप्त अग्नि जाग्रत हो जाती है। उस अग्नि में दुख और असंतोष, पीड़ाएं और संताप।। सभी दग्ध हो जाते हैं और उसी अग्नि से उन फूलों को जन्म होता है, जो कि आनंद के हैं जो कि अनंत के हैं, जो कि अमृत के हैं।
मित्रो, मैं तुम्हें इस अदभुत खोज के लिए आमंत्रित करता हूं। और स्मरण रहे कि जिस क्षण भी तुम्हारे हृदयों में इस आवाहन की गूंज प्रतिध्वनित हो उठेगी, उसी क्षण तुम एक दूसरे ही मनुष्य हो जाओगे। जो ऊपर की पुकार सुनता है, उसके प्राण फिर नीचे की पुकारों को सुनने में असमर्थ हो जाते हैं। नीचे की पुकारें तभी तक हैं, जब तक कि ऊपर की पुकार और चुनौती को स्वीकार नहीं किया जाता है। पशु की ओर बहाव तभी तक है, जब तक कि परमात्मा की ओर दृष्टि नहीं है और पृथ्वी केवल उन्हें ही बांध रखने में समर्थ है जो कि आकाश में उड़ने के स्वप्न नहीं देखते हैं। आंखें ऊपर उठाओ

और देखो कि आत्मा की उड़ान के लिए कितना बड़ा।। कितना विराट।। कितना असीम आकाश फैला हुआ है! और वह भी कितना निकट? क्या वह अत्याधिक मूढ़तापूर्ण और अपमानजनक नहीं है। कि हम जमीन पर ही रेंगनेवाले कीड़े-मकोड़े बने रहें जबकि हमारे पास आकाश के सुदूर से सुदूर क्षितिजों को भी अतिक्रमण कर जाने वाले पंख हैं और ऐसी आत्मा है जो कि आकाश से भी बड़ी है।
लेकिन, वह आत्मा बड़ी रहस्यपूर्ण है। वह उतनी ही छोटी या बड़ी हो जाती है, जितना कि उसका संकल्प होता है। वह छोटे से छोटे अणु से भी छोटी हो सकती है और बड़े से बड़े आकाश से भी बड़ी, वह पशु भी हो सकती है और परमात्मा भी और यह सब स्वयं उस पर ही निर्भर है। वह स्वयं ही अपना सृजन है। इसीलिए जो क्षुद्र पर चित्त को केंद्रित करते हैं, वे क्षुद्र हो जाते हैं। और जो अनंत में उड़ान की आकांक्षा को स्वयं में जन्म देते हैं वे अनंत हो जाते हैं।
इसीलिए मैं कहता हूं, चाहना ही है तो परमात्मा को चाहो। और बंधना ही है, तो अनंत आकाश से बंधो। और कारागृह ही बनाना है, तो ब्रह्म से छोटा कोई भी कारागृह मनुष्य के लिए बहुत छोटा है। सीमा ही बनानी है, तो स्वतंत्रता को सीमा बनाओ, क्योंकि वह बांधेगी नहीं और-और मुक्त करेगी। और पाश ही खोजते हो, तो प्रेम के खोजो, क्योंकि प्रेम पाश नहीं, परम-मुक्ति है।